पालि साहित्य : समाजिक एवं आर्थिक समानता का एक जीवंत दस्तावेज

कृष्ण मुरारी

एसोशिएट प्रोफेसर, आर्यभट्ट कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली -110021

सिमरजित कौर

रिसर्च एसोशिएट, नेशनल मैनुस्क्रिप्ट मिशन, दिल्ली – 110001

सारांश

प्रस्तुत पत्र का उद्देश्य भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अद्वितीय स्तंभ 'पालि साहित्य' के आलोक में बुद्धकालीन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के गहन विश्लेषण के साथ-साथ यह स्पष्ट करना है कि पालि साहित्य केवल धार्मिक सिद्धांतों का संकलन मात्र नहीं है, बल्कि यह तत्कालीन समाज का एक जीवंत ऐतिहासिक दस्तावेज है, जो समतामूलक समाज और न्यायपूर्ण आर्थिक व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। इस पृष्ठभूमि में प्रथमतः यह लेख बुद्धकालीन भारत की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का वर्णन करता है। 'द्वितीय नगरीकरण' के युग के रूप में चिन्हित इस युग में लोहे के प्रयोग, कृषि अधिशेष और व्यापारिक श्रेणियों के उदय ने एक ऐसे परिवेश का निर्माण किया जहाँ पुरानी वैदिक रूढ़ियाँ अप्रासंगिक होने लगी थीं। ऐसी संक्रमणकालीन परिस्थिति में महात्मा बुद्ध ने 'मध्यम मार्ग' और 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के माध्यम से उस वैचारिक क्रांति का सूत्रपात किया, जिसने आमजनों को अपनी और व्यापक रूप से आकृष्ट किया। इस पत्र में उस सामाजिक दृष्टिकोण का भी विवेचन करने का प्रयास किया गया है जो समाज में 'कर्म-आधारित' श्रेष्ठता पर बल देता है। बुद्ध ने अस्सलायन और वासेट्ठ सुत्त जैसे ग्रंथों के माध्यम से जन्म-आधारित वर्ण-व्यवस्था का खंडन किया और 'अत्त दीपो भव' के माध्यम से मानवीय गरिमा को सर्वोच्च स्थान दिया। इसमें बौद्ध 'संघ' को विश्व के प्रथम 'वर्गहीन और लोकतांत्रिक समाज' के रूप में चित्रित किया गया है, जहाँ व्यक्तिगत संपत्ति का निषेध और सामूहिक निर्णय प्रक्रिया (मतदान) की प्रधानता थी। यह बुद्ध के आर्थिक न्याय समबन्धित विचारों को स्पष्ट करते हुए यह प्रत्र बुद्ध के 'सम्यक आजीविका' और 'ऋण-मुक्ति' के सिद्धांतों की विवेचना करता है। यह पत्र इस तथ्य का भी उल्लेख करता है कि बुद्ध ने दरिद्रता को केवल व्यक्तिगत अभाव नहीं, बल्कि सामाजिक पतन और अपराध का मूल कारण माना जिससे निपटने के लिए बुद्ध ने राज्य को आर्थिक संसाधनों के न्यायपूर्ण वितरण और कल्याणकारी नीतियों के निर्माण का परामर्श दिया, जो आज के कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के अनुरूप है। यह प्रपत्र अन्त में महिलाओं की

आध्यात्मिक स्वतंत्रता (थेरीगाथा) और बुद्ध के विचारों की आधुनिक युग में प्रासंगिकता को रेखांकित करता है। आज के उपभोक्तावाद, नस्लभेद और बढ़ती आर्थिक विषमता के दौर में पालि साहित्य में निहित बुद्ध के विचार एक 'नैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक ढांचे' के रूप में वैश्विक समाधान प्रस्तुत करते हैं।

मुख्य शब्द :.पालि साहित्य, मध्यम मार्ग, सम्यक आजीविका, वर्गहीन समाज , मानवीय गरिमा, आर्थिक न्याय

1. भूमिका

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं एवं संस्कृतिओं में से एक है। यह संस्कृति विश्व में अपनी अनेक योगदानों एवं विलक्षणताओं के लिए विख्यात है। विशेषकर, भारतीय संस्कृति की 'अनेकता में एकता' जैसी विशिष्टता विश्व के लिए आश्चर्य का विषय है। उल्लेखनीय है कि भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के ऐसे विशिष्टताओं के निर्माण एवं विकास में इस धरा पर उत्पन्न महान ऋषियों, मुनियों, मनीषियों, विचारकों आदि के चिंतन, विचार एवं ज्ञान की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है जिसकी स्पष्ट झलक हमें इस धरा पर पल्लवित एवं पुष्पित अनेक साहित्यों (यथा- वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, प्राकृत साहित्य, तमिल साहित्य आदि) के अवलोकन से होती है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माणक, पोषक एवं प्रसारक ऐसे साहित्यों में पालि साहित्य की भी गणना की जाती है। पालि साहित्य हमारी वह अनुपम, अद्वितीय, अद्भुत, विशिष्ट, आकर्षक एवं प्रभावकारी विरासत है जिसने भारतीय ज्ञान एवं संस्कृति को न सिर्फ स्थानीय स्तर पर प्रतिष्ठापित किया, अपितु उसे विश्वव्यापी बनाने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

पालि साहित्य क्या है?

पालि साहित्य का उद्गम एवं विकास बुद्ध की देशना से प्रारंभ मानी जाति है। यह सिद्धार्थ गौतम के बुद्धत्व प्राप्ति से लेकर महापरिनिर्वाण पर्यंत 45 वर्षों की अवधि में बुद्ध एवं उनके तत्कालीन कुछ महत्त्वपूर्ण प्रज्ञ शिष्यों के द्वारा प्रज्ञप्त सभी उपदेशों का संकलन 'तिपिटक (त्रिपिटक)' एवं 'त्रिपिटक' पर लिखी गयी अर्थकथाओं, टीकों, अनुटीकाओं, संग्रहों आदि का संकलन है। सामान्यतः यह माना जाता है कि पालि साहित्य बौद्ध धर्म के थेरवाद (स्थविरवाद) परम्परा का धार्मिक वांड्मय है, किन्तु वास्तविकता यह है कि यह तत्कालीन समाज का एक जीवंत दस्तावेज है। चूँकि, इस साहित्य का प्रादुर्भाव बुद्ध की देशना से माना जाता हैं, यहाँ यह उल्लेख कर देना समीचीन प्रतीत होता है कि शाक्यमुनि गौतम बुद्ध का प्रादुर्भाव उस समय हुआ जब समाज अनेक प्रकार के विसंगतियों और मिथ्या-दृष्टियों, यथा - वर्ण-भेद, बलि-प्रथा, आर्थिक विषमता आदि के भंवर में फंसा था। पालि

साहित्य में संकलित विभिन्न सुत्तों (बुद्ध के उपदेशों) के अवलोकन से यह प्रकट होता है कि बुद्ध ने मानव-अस्तित्व की समस्याओं एवं उसके निराकरण को प्रख्यापित करने के क्रम में तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को

चुनौती देते हुए जनमानस के समक्ष 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' का आदर्श उपस्थापित किया और एक ऐसे समाज के निर्माण की नींव रखी जहाँ मानव जाति एक सामान थी। अतएव, यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगा कि पालि साहित्य, विशेषकर (त्रिपिटक) न सिर्फ आध्यात्मिक मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है, बल्कि यह एक समतामूलक समाज और न्यायपूर्ण आर्थिक व्यवस्था की रुपरेखा भी प्रस्तुत करता है। हालाँकि, पालि साहित्य में विद्यमान समतामूलक एवं न्यायपूर्ण अर्थ-अर्थव्यवस्था से सम्बंधित प्रेरक हितकारी तत्त्वों के विवेचन के पूर्व तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को समझना आवश्यक प्रतीत होता है।

2. बुद्धकालीन भारत की आर्थिक स्थिति

छठी शताब्दी ईसा पूर्व का युग (काल), जो सामान्यतः 'बुद्ध काल' के रूप में ज्ञात हैं, भारतीय इतिहास में 'द्वितीय नगरीकरण' और 'वैचारिक क्रांति' का काल माना जाता है। इस काल में लोहे के प्रयोग ने कृषि-क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रांति ला दी, परिणामतः नवी]न नगरों का उदय हुआ। इन आर्थिक परिवर्तनों ने एक ऐसे नए समाज को जन्म दिया, जिसने रूढ़िवादी वैदिक परंपराओं को चुनौती देना प्रारम्भ किया और उस काल में उत्पन्न हुए बौद्ध एवं जैन जैसे श्रमण संप्रदायों का स्वागत किया।

स्पष्ट है कि बुद्ध काल में भारत की आर्थिक संरचना में अभूतपूर्व परिवर्तन हो रहा था। यद्यपि इस काल की अर्थव्यवस्था का आधार कृषि, शिल्प, व्यापार और मुद्रा प्रणाली थी, तथापि इस काल की सबसे बड़ी आर्थिक घटना थी - गंगा की घाटी में लोहे के उपकरणों का व्यापक प्रयोग। लोहे की कुल्हाड़ियों से घने जंगलों को साफ करने के कारण जहाँ एक तरफ कृषि के लिए व्यापक भूमि उपलब्ध हुए वहीँ दूसरी ओर लोहे के फाल वाले हलों के प्रयोग से कृषि-भूमि की गहरी जुताई संभव हुई। इस काल में धान की रोपाई की तकनीक का विकास हुआ, जिससे उत्पादन में भारी वृद्धि हुई। अधिशेष उत्पादन ने गैर-कृषि कार्यों में लगे लोगों (यथा - शिल्पकारों, व्यापारियों, सैनिकों) के भरण-पोषण को जहाँ एक ओर आसान बना दिया, वहीं दूसरी ओर व्यापर के लिए पर्याप्त अनाज (खाद्यान्न) उपलब्ध हुआ जिससे व्यापारिक गतिविधियों में अभिवृद्धि हुई। कृषि-क्षेत्र के विस्तार और लाभकारी कृषि के कारण इस काल में व्यक्तिगत भूमि स्वामित्व की अवधारणा

भी मजबूत होने लगी, जिसकी पुष्टि पालि ग्रंथों में 'पति' (भूपति या गृहपति) शब्द की उपलब्धता से होती है, जो बड़े भूस्वामियों के लिए प्रयुक्त होता था।

लाभकारी कृषि एवं व्यापारिक गतिविधियों में अभिवृद्धि के कारण इस काल में द्वितीय नगरीकरण का उदय हुआ। फलतः हड़प्पा सभ्यता के पतन के लगभग एक हजार साल बाद भारत में पुनः अनेक नगरों का उदय हुआ। बौद्ध ग्रंथों में ऐसे छः महानगरों का विशेष उल्लेख मिलता है, यथा - चंपा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी और वाराणसी। ये सभी नगर उस समय के प्रमुख व्यापारिक और प्रशासनिक केंद्र थे।

कृषि एवं व्यापारिक गतिविधियों के परिणामस्वरूप समाज में विभिन्न प्रकार के शिल्प-कार्यों में लिप्त लोग अलग-अलग समूहों में इकट्ठा होने लगे थे, जिन्हें 'श्रेणी' कहा जाता था। पालि ग्रंथों में श्रेणी में संगठित लगभग 18 प्रकार के शिल्पों (Crafts) का वर्णन मिलता है। यथा - बढ़ई, लुहार, चर्मकार, कुम्हार और जुलाहे इत्यादि। इन श्रेणियों में से प्रत्येक श्रेणी का एक प्रमुख होता था जिसे 'प्रमुख' या 'जेठक' (ज्येष्ठक) कहा जाता था।

बुद्ध काल में व्यापार के क्षेत्र में अंतर्देशीय और सुदूर देशों के साथ व्यापार में काफी बढ़ोतरी हुआ। प्रमुख व्यापारिक मार्ग थे - उत्तरापथ (तक्षशिला से पाटिलपुत्र तक) और दक्षिणापथ। इन मार्गों पर 'सार्थवाह' (काफिले का नेता) व्यापारियों के बड़े-बड़े समूहों को लेकर चलते थे और दूरस्थ क्षेत्रों तक व्यापर करते थे। व्यापार के क्षेत्र में व्यापाक स्तर पर हुए विकास के फलस्वरूप बुद्ध काल में वस्तु-विनिमय का स्थान धातु की मुद्राओं ने ले लिया। इन्हें 'आहत सिक्के' या पालि में 'कहापण' (कार्षापण) कहा जाता था। ये सिक्के मुख्यतः चाँदी और ताँबे के होते थे जिन पर पेड़, मछली, सांड आदि के चित्र ठप्पे मारकर बनाए जाते थे।

2.1. बुद्धकालीन सामाजिक स्थिति

आर्थिक क्षेत्र में हुए उपर्युक्त कुछ प्रमुख परिवर्तनों का सीधा प्रभाव समाज पर पड़ा। फलतः बुद्धकालीन समाज वर्ण-व्यवस्था, जातिवाद, शहरीकरण और नए धार्मिक विचारों के एक जटिल मिश्रण में परिवर्तित हो गया।

वैदिक काल में विकसित चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की व्यवस्था न सिर्फ अभी भी मौजूद थी, अपितु यह एक गंभीर रूप में परिवर्तित हो चुका था जिसके कारण समाज में तनाव पैदा हो गया था। तत्कालीन साहित्य, विशेषकर बौद्ध और जैन ग्रंथों के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि उस समय ब्राह्मणों और क्षत्रियों के मध्य समाज में अपने-अपने वर्चस्व (सर्वोच्च अस्तित्व) के लिए संघर्ष चल रहा था जिसकी पुष्टि उन (बौद्ध एवं जैन) ग्रंथों में वर्णित इस तथ्य से होती है कि वहाँ क्षत्रियों को ब्राह्मणों से

ऊपर दर्शाया गया है। क्षत्रिय वर्ग ब्राह्मणों के धार्मिक एकाधिकार और यज्ञों में होने वाली पशुबल आदि जैसे व्ययकारी एवं व्यर्थ कर्मकांडों का विरोध कर रहा था, क्योंकि कृषि एवं व्यापारिक गतिविधियों के लिए पशुधन (बैलों) की रक्षा आवश्यक थी। यहाँ यह उल्लेख कर देना समीचीन प्रतीत होता है कि स्वयं महात्मा बुद्ध और महावीर क्षत्रिय राजकुमार थे।

व्यापार और कृषि के कारण वैश्य वर्ग अत्यंत समृद्ध हो गया था। धर्मशास्त्रों में वैश्यों को ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के अधिनस्थ 'तीसरे स्थान' पर रखा गया था, जो उनकी बढ़ती आर्थिक शक्ति के साथ न्याय नहीं करता था। इसलिए समृद्ध व्यापारियों (जैसे अनाथपिंडक आदि) ने परम्परागत सामाजिक व्यवस्था का विरोध करनेवाले बौद्ध धर्म का खुले दिल से समर्थन किया। बौद्ध धर्म की जन्म के बजाय कर्म और सदाचार को महत्व देने की प्रवृति ने इस समुदाय को अपनी ओर आकर्षित किया और इनमें ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के सदृश सामाजिक सम्मान प्राप्त करने की आशा जागृत किया।

बुद्ध काल में यद्यपि 'अस्पृश्यता' का अस्तित्व व्यापक नहीं था, तथापि इसके शुरुआती लक्षण दिखाई देने लगे थे। समाज में चांडाल, पुक्कुस, नेषाद जैसी जातियों को निम्न और हेय दृष्टि से देखा जाने लगा था। नगरों के बाहर उनके निवास स्थान होते थे। यह वर्ग भी जन्म-आधारित-पुरानी व्यवस्था से क्षुब्ध था। महात्मा बुद्ध ने अपने 'संघ' का द्वार सभी जातियों के लिए खोलकर ऐसे लोगों को अपनी और आकर्षित किया। उपालि नामक नाई संघ का एक प्रमुख भिक्षु बना।

पितृसत्तात्मक समाज होने के कारण महिलाओं की स्थिति सामान्यतः पुरुषों के अधीन थी। बाल विवाह की शुरुआत हो रही थी और संपत्ति में उनके अधिकार सीमित थे। परंतु, बुद्ध ने प्रजापति गौतमी के आग्रह पर 'भिक्षुणी संघ' की स्थापना कर महिलाओं के आध्यात्मिक उत्थान का मार्ग खोल दिया। । बौद्ध ग्रंथ 'थेरीगाथा' में सांसारिक समस्याओं से मुक्त हुई भिक्षुणियों की सुंदर आध्यात्मिक कविताएँ संकलित हैं, जो उस समय की स्त्री-चेतना का अद्भुत उदाहरण हैं।

इस काल में दास प्रथा विद्यमान थी। युद्धबंदी, कर्ज न चुका पाने वाले लोग, या दंडित लोग दास बनाए जाते थे। दासों के साथ दुर्व्यवहार की भी खबरें मिलती हैं, लेकिन पालि ग्रंथों में दासों के प्रति मानवीय दृष्टिकोण अपनाने की शिक्षा भी दी गई है।

इसप्रकार, तत्कालीन परिस्थितयों के अवलोकन से यह सिद्ध होता है कि यह समय भारतीय इतिहास का एक संक्रमणकाल था। इस समय कबीलाई जीवन का अंत हो रहा था और बड़े-बड़े राज्यों (महाजनपदों) तथा साम्राज्यों (जैसे मगध) की नींव पड़ रही थी। इस काल में भारत में पहली बार मुद्रा, पक्की ईंटों के घर, लेखन कला का पुनरुत्थान और एक नगरीय संस्कृति का विकास हुआ। सामाजिक रूप से, इसने जाति व्यवस्था की

कठोरता के बीच एक उदार खिड़की खोली। बौद्ध संघ ने समानता, लोकतंत्र और तर्कवाद का पाठ पढ़ाया। आर्थिक समृद्धि ने भारत को वैश्विक व्यापार के मानचित्र पर स्थापित कर दिया। इस युग ने कालांतर में भारतीय इतिहास के गौरवशाली अध्याय - मौर्य साम्राज्य की भव्यता का मार्ग प्रशस्त किया। अतः, यह काल केवल एक धार्मिक आंदोलन तक सीमित नहीं था, बल्कि यह एक सामाजिक-आर्थिक आवश्यकता का भी युग था।

3. बुद्ध का प्रादुर्भाव : मिथ्या-दृष्टियों (शाश्वतवाद एवं उच्छेदवाद) पर प्रहार

ऐसी ही परिस्थिति में बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने उरुवेला (वर्त्तमान बोध-गया) में निरंजना नदी के तट पर अवस्थित बोधि-वृक्ष (असत्थ वृक्ष) के नीचे विमुत्ति (विमुक्ति) सुख का अनुभव करने के क्रम में प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुलोमनय और प्रतिलोमनय के मनन करते हुए संसार की समस्याओं के कारण (दुक्खसमुदय) एवं उन समस्याओं के कारण को विनष्ट करने (दुक्खनिरोध) सम्बन्धी अपनी विश्वदृष्टि का विकास किया। कालक्रम में बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के परिहार के रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धांत का प्रज्ञापन किया। उल्लेखनीय है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रतीत्य शब्द शाश्वतवाद के अंत का और समुत्पाद के द्वारा उच्छेदवाद के अंत के निषेध को संदर्भित करता है और मध्यम मार्ग की प्रतिष्ठापना पर बल देता है। यही कारण है कि नागार्जुन जैसे मूर्धन्य बौद्ध दार्शनिक ने प्रतीत्यसमुत्पाद को अपने मध्यम मार्ग के रूप में प्रकाशित किया।

शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद क्रमशः बुद्ध के द्वारा प्रथम धर्मोपदेश के क्रम में उपदिष्ट दो अन्तों अत्यधिक कामभोग एवं अत्यधिक तपश्चर्या में संलिप्तता (कामसुखल्लिकानुयोग एवं अत्तकिलमथानुयोग) को संदर्भित करता है। बुद्ध ने व्यक्ति के कामभोग की लिप्सा को जहाँ हीन, ग्राम्य, अनाड़ी (अज्ञानी) मनुष्यों के (योग्य), अनार्य (-सेवित), अनर्थों से युक्त माना, वहीँ शारीर को अत्यधिक कष्ट देने की प्रवृति को दुःखमय, अनार्य (-सेवित) और अनर्थों से युक्त माना।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मानव की यह प्रवृति है कि वह अपने पक्ष अथवा दृष्टिकोण को अकाट्य, प्रमाणिक, हितकारी आदि के रूप में एक 'अन्त' के रूप में ग्रहण कर लेता है और उसके विरुद्ध किसी अन्य मन्तव्य को सुनने और स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं होता है। मनुष्य की यह प्रवृति मात्र किसी एक व्यक्ति तक सीमित नहीं होती, अपितु समाज, क्षेत्र तथा राष्ट्र तक इसके चपेट में आ जाते हैं। परिणामतः यह छोट-मोटे कलहों एवं संघर्षों से लेकर बड़े-बड़े युद्ध तक इस अन्तगृह के कारण उत्पन्न होते हैं। आजकल होनेवाले साम्प्रदायिक विद्वेषों, धार्मिक संधर्षों, एवं युद्धों के मूल में कारण के रूप में यह प्रवृति ही निहित होता है।

मानव-सभ्यता के प्रारम्भ से ही मनुष्य में सुख और शांति से जीने की अभिलाषा रही है और अपनी अभिलाषा की पूर्ति के निमित्त वह निरंतर नित्य नये-नए खोजों और अविष्कारों में लगा रहता है। यही कारण है कि हम घुमंतू एवं, पशुपालक जीवन के युग से निकलकर जीवन के कई आयामों एवं सोपानों से गुजरते हुए आज हम कृत्रिम बुद्धि (AI) के युग में पहुँच चुके हैं। बुद्ध काल में जब निरंतर आर्थिक समृद्धि के कारण भारत द्वितीय नगरीकरण की अवस्था से गुजर रहा था समाज में एक स्थायी सुख एवं शांति की आवश्यकता महसूस की जा रही थी। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए तत्कालीन प्रबुद्ध वर्ग नाना प्रकार के विचारों एवं दृष्टियों का प्रतिपादन कर रहे थे। दीघनिकाय पालि के 'ब्रह्मजाल-सुत्त' में ऐसे 62 प्रकार की दृष्टियों का उल्लेख है; और सामञ्ञफल-सुत्त में पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजितकेसकम्बलि, प्रकुद्ध कच्चायन, निगंठ नातपुत्त, संजयवेलट्ठिपुत्त जैसे तत्कालीन छः तीर्थंकरों का उल्लेख है, जो मनुष्य के शंकाओं के समाधानार्थ अपने-अपने विचार प्रकट कर रहे थे। ये सभी मत किसी न किसी रूप में या तो शाश्वतवाद के अन्त का अथवा उच्छेदवाद के अन्त का प्रतिपादन कर रहे थे और अन्ततः मानव एवं समाज को यथार्थ से दिग्भ्रमित एवं बेचैन कर रहे थे। अतएव, बुद्ध ने इन सभी मतों को मिथ्या दृष्टि घोषित कर इन्हें मानव-हित की दृष्टि से व्यर्थ एवं अहितकर बताया और इनके स्थान पर मध्यम-मार्ग जिसे आर्य अष्टांगिक मार्ग भी कहा जाता है, के अभ्यास पर बल दिया।

बुद्धकाल में मानव-प्रजाति शांति और सुख की खोज में न सिर्फ व्यर्थ वैचारिक भिन्नताओं से जूझ रहा था अपितु सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं से भी संघर्ष कर रहा था। अतएव बुद्ध को वैचारिक दृष्टि को ऋजु एवं सम्यक् बनाने के अतिरिक्त समाज में व्याप्त सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं से सम्बंधित समस्याओं के निदान के लिए अपना विचार व्यक्त करना पड़ा, जो उनके जनकल्याण एवं जनहित में प्रज्ञप्त उपदेशों के मूल उद्देश्य दुःख एवं दुःखनिरोध के अनुरूप ही था।

4. सामाजिक समानता: वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद का खंडन

समाज में विद्यमान व्यर्थ एवं हानिकारक धार्मिक एवं वैचारिक भिन्नताओं से भिन्न जन कल्याणकारी एवं हितकारी बुद्ध-मतों के प्रतिपादन के पश्चात् बुद्ध के समक्ष कालक्रम में तत्कालीन सामाजिक विषमताओं से सम्बंधित समस्यायें उपस्थित होती रही जिनके निराकरण के लिए बुद्ध ने जनमानस को अपने मतों से अवगत कराया। इस क्रम में बुद्ध ने, सर्वप्रथम, जन्म-आधारित श्रेष्ठता को पूरी तरह खारिज किया। उनके अनुसार, मनुष्य की पहचान उसके 'कर्मों' से होती है, न कि 'कुल' या 'जाति' से। अस्सलायन सुत्त में बुद्ध अस्सलायन

नामक ब्राह्मण से जन्म देने की प्रक्रिया से सम्बंधित संवाद करते हुए कहते हैं कि क्या केवल ब्राह्मणों की स्त्रियाँ ही गर्भवती होती हैं और बच्चे पैदा करती हैं? यदि अन्य वर्णों की प्रक्रिया भी वही है, तो ब्राह्मण श्रेष्ठ कैसे हुए? इस सुत्त में बुद्ध यह तर्क प्रस्तुत करते हुए दिखाई पड़ते हैं कि यदि एक ब्राह्मण महिला और एक शूद्र महिला दोनों संतान को जन्म देती हैं, तो उनकी शारीरिक प्रक्रिया में कोई अंतर नहीं होता। अतः जन्म के आधार पर श्रेष्ठता का दावा मिथ्या है। बुद्ध ने तर्क दिया कि चारों वर्णों के व्यक्ति यदि अपराध करेंगे, तो उन्हें समान दंड मिलेगा और यदि वे पुण्य करेंगे, तो उन्हें समान फल मिलेगा।

जन्म-आधारित सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी परिचर्चा को आगे बढ़ाते हुए वासेट्ठ सुत्त में बुद्ध कहते हैं कि तृण, कीट, चतुष्पद और सर्पों में तो प्रजातिगत भेद (जाति-भेद) होता है, लेकिन मनुष्यों में ऐसा कोई शारीरिक भेद नहीं होता। मनुष्य केवल कर्म से भिन्न होता है। बुद्ध स्पष्ट करते हैं कि घास, पेड़ों, कीड़ों और पशुओं की अलग-अलग प्रजातियां होती हैं, लेकिन मनुष्यों में ऐसी कोई जैविक भिन्नता नहीं है। मनुष्यों में भेद केवल 'संज्ञा' (नाम) का है। धम्मपद में तो बुद्ध ने 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ ही बदल दिया। उन्होंने स्पष्ट किया कि ''न जटा से, न गोत्र से और न जन्म से कोई ब्राह्मण होता है; जिसमें सत्य और धर्म है, वही पवित्र है और वही ब्राह्मण है।''

5. मानवीय गरिमा का विवेचन

बुद्ध ने जन्म आधारित सामाजिक व्यवस्था के खण्डन के साथ-साथ मानवीय गरिमा के महत्त्व को रेखांकित करते हुए व्यक्ति के 'आत्म-निर्णय' के अधिकार और 'नैतिक स्वतंत्रता' पर विशेष बल दिया। इसलिए, उन्हों ने अत्त दीपो भव (अपना दीपक स्वयं बनो) का सन्देश देकर व्यक्ति को किसी दैवीय सत्ता या पुरोहित के अधीन मानने के बजाय उसे अपनी मुक्ति का स्वयं मार्गदर्शक माना। यह मनुष्य की बौद्धिक गरिमा की सर्वोच्च घोषणा है।

6. सामाजिक समरसता और आर्थिक न्याय

मानवीय गरिमा पर विशेष बल देने के अतिरिक्त बुद्ध ने सामाजिक समरसता और आर्थिक न्याय की स्थापना पर भी विशेष बल दिया क्योंकि जो समाज विभाजित होता है जहाँ आर्थिक विषमता विद्यमान रहती है वहाँ अनेक प्रकार की समस्याओं का बोलबाला होता है; समाज में शांति एवं व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती है। अतएव बुद्ध ने सामाजिक ऐक्य एवं समरसता को ध्यान में रखते हुए 'सिगालोवाद सुत्त' में गृहस्थों के कर्तव्यों का वर्णन किया, जिसमें मालिक और नौकर के बीच मानवीय संबंधों और गरिमापूर्ण व्यवहार पर बल दिया गया है। उन्होंने दासों और श्रमिकों के प्रति सहानुभूति और उचित

मजदूरी की वकालत की। उल्लेखनीय है कि बौद्ध दृष्टिकोण से सामाजिक समानता केवल एक राजनीतिक विचार नहीं, बल्कि एक आध्यात्मिक आवश्यकता है। बुद्ध ने 'प्रज्ञा', 'शील' और 'करुणा' के त्रिकोण के माध्यम से व्यवस्था का खंडन किया और यह प्रतिपादित किया कि मानवीय गरिमा जन्मजात नहीं बल्कि आचरण-जन्य है।

7. संघ: समानता का प्रेरक तत्त्व : संध

पालि साहित्य में सामाजिक समानता सम्बंधित विचारों का बुद्ध ने न सिर्फ प्रज्ञापन किया अपितु 'भिक्खु संघ' की स्थापना कर उन्होंने समाज के समक्ष एक वर्गहीन समाज के प्रतिरूप के रूप में संध को प्रस्तुत किया। बौद्ध संघ की स्थापना के प्रक्रिया एवं अन्य प्रावधानों के अवलोकन के आधार पर बौद्ध संघ की संरचना को विश्व के इतिहास में 'प्रथम वर्गहीन और लोकतान्त्रिक समाज' के जीवंत उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। बुद्ध ने तत्कालीन समाज की सोपानिक वर्ण-व्यवस्था के समानांतर एक ऐसी वैकल्पिक व्यवस्था खड़ी की, जहाँ जन्म, कुल और धन का कोई मूल्य नहीं था।

संघ में प्रवेश करते ही व्यक्ति की पुरानी जाति, कुल और नाम समाप्त हो जाते थे। इसे उदान के पहारद सुत्त में एक बहुत ही सुंदर उदाहरण के माध्यम से समझाते हुए बुद्ध ने कहा कि "जिस प्रकार गंगा, यमुना, अचिरावती और सरयू नदियाँ जब समुद्र में मिल जाती हैं, तो वे अपना नाम और अस्तित्व खोकर केवल 'समुद्र' बन जाती हैं, वैसे ही चारों वर्णों के लोग (क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र) संघ में प्रवेश पाकर अपनी जाति त्याग देते हैं और केवल 'शाक्यपुत्र' (बुद्ध के शिष्य) कहलाते हैं।

वैदिक समाज में श्रेष्ठता का आधार 'जन्म' था, लेकिन संघ में श्रेष्ठता का आधार 'दीक्षा की अवधि' (वस्स) थी। उदाहरण के लिए उपालि, जो एक 'नाई' (शूद्र) थे, उन्होंने शाक्य राजकुमारों (अनिरुद्ध, भदिय आदि) से पहले दीक्षा ली। नियम के अनुसार, उन उच्चकुलीन राजकुमारों को अपने से पहले दीक्षित हुए उपालि के चरणों में झुकना पड़ा। यह सामाजिक सोपान को पूरी तरह उलट देने वाली घटना थी। नाई 'उपालि' का संघ में प्रमुख स्थान पाना और उच्च वर्णीय राजकुमारों का उन्हें प्रणाम करना सामाजिक क्रांति का चरम बिंदु था।

यही नहीं, बुद्ध ने बौद्ध-संघ को समाज के समक्ष एक वर्गहीन संस्था के रूप में प्रस्तुत किया। वर्गहीन समाज की अनिवार्य शर्त 'साझा संपत्ति' है। संघ में व्यक्तिगत संपत्ति का निषेध था। एक भिक्खु के पास केवल आठ अनिवार्य वस्तुएं (अट्ठ परिष्खार) हो सकती थीं (जैसे- पात्र, तीन चीवर, सूई आदि)। भोजन के लिए सभी को 'पिण्डपात'

(भिक्षा) पर निर्भर रहना पड़ता था, चाहे वह पूर्व में राजा रहा हो या रंक। संघ को मिलने वाला दान 'भिक्खु संघ' (सामूहिक) की संपत्ति माना जाता था, न कि किसी व्यक्ति की।

उपर्युक्त विशिष्टताओं के अतिरिक्त संघ की कार्यप्रणाली पूरी तरह गणतांत्रिक थी, जहाँ 'वर्ग' या 'विशेषाधिकार' के लिए कोई स्थान नहीं था। किसी भी निर्णय के लिए 'ञप्ति' (प्रस्ताव) रखा जाता था। असहमति होने पर 'सलाका' (काष्ठ की छड़ें) के माध्यम से मतदान होता था। 'सलाका-गाहपक' (मतदान अधिकारी) यह सुनिश्चित करता था कि प्रत्येक सदस्य का मत बराबर है।

संघ के द्वार सभी के लिए समान रूप से खुले थे। बुद्ध ने समाज के सबसे निचले स्तर के व्यक्तियों को संघ में उच्च स्थान देकर वर्गहीनता को व्यावहारिक रूप दिया। पालि साहित्य में ऐसे कई उदहारण हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि नैतिकता और प्रज्ञा किसी वर्ग या जाति विशेष की जागीर नहीं है। इन उदाहरणों में प्रमुख है - सुनीत (सफाई कर्मचारी) , सोपाका (शमशान में रहने वाला), और अंगुलिमाल (डाकू) जैसे व्यक्तियों का भिक्खु बनकर अरहत्त पद का अधिगम करना।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि बौद्ध संघ की संरचना एवं क्रिया-कलाप से सम्बंधित ये सरे तत्व इसे वर्गहीन समाज की स्थापना की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि बौद्ध संघ केवल एक धार्मिक संगठन नहीं था, बल्कि वह एक 'समाजशास्त्रीय प्रयोग' था। बौद्ध संघ ने यह प्रमाणित किया कि यदि व्यक्तिगत अहंकार और संपत्ति का त्याग कर दिया जाए, तो एक वर्गहीन समाज का निर्माण संभव है। अतः संघ की इस संरचना को आधुनिक लोकतंत्र और समाजवाद के बीज के रूप में देखा जा सकता है।

8.आर्थिक समानता का प्रारूप

बौद्ध दर्शन न केवल व्यक्तिगत आध्यात्मिक मुक्ति के मार्ग का प्रतिपादन करता है, बल्कि वह एक न्यायपूर्ण और संतुलित सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का भी समर्थन करता है। मनुष्य के आर्थिक जीवन की व्याख्या करते हुए पालि साहित्य उसे केवल मनुष्य की भौतिकता तक सीमित नहीं रखता है, बल्कि उसे नैतिकता (सील) से भी संबद्ध करता है। यही कारण है कि बुद्ध ने गृहस्थों के लिए 'धार्मिक धन' की अवधारणा प्रस्तुत की और इस निमित्त आर्थिक नैतिकता के दो प्रमुख स्तंभ 'सम्मा-आजीव' (सम्यक् आजीविका) और 'अनण-सुख' (ऋण-मुक्ति का आनंद) हैं।

'सम्मा-आजीव' आर्य अष्टांगिक मार्ग का पांचवां अंग है। इसका अर्थ है ऐसी आजीविका अपनाना जो 'मिच्छा-आजीविका' (मिथ्या-आजीविका) न हो। उल्लेखनीय है कि

छल, कपट और सूदखोरी से अर्जित धन 'मिच्छा-आजीव' (मिथ्या आजीविका) की श्रेणी में आता है। यही नहीं, आजीविका ऐसी होनी चाहिए जो न तो किसी प्राणी के लिए कष्टकारी अथवा हानिकारक हो और न ही अनैतिक हो। आजीविका नैतिक दृष्टि से सम्यक् हो और किसी के लिए हानिकारक न हो इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए बुद्ध व्यक्ति के द्वारा किये जानेवाले पांच प्रकार के व्यापार को निषिद्ध बताते हैं। वणिज्जा सुत्त के अनुसार ये पांच प्रकार के व्यापार हैं शस्त्रों का व्यापार (सत्थ वणिज्जा); मनुष्यों का व्यापार (सत्त वणिज्जा); मांस का व्यापार (मंस वणिज्जा); नशीले पदार्थों का व्यापार (मज्ज वणिज्जा); और विष का व्यापार (विस वणिज्जा)। इस सुत्त के माध्यम से बुद्ध ने अपेक्षा की है कि उपासक को इन पाँच प्रकार के व्यापार को नहीं करना चाहिए। इस पृष्ठभूमि में सम्यक् आजीविका का सार बुद्ध के अनुसार यह है कि धन 'बाहुबल' (शारीरिक श्रम) और 'पसीने की कमाई से अर्जित होना चाहिए।

ऋण मुक्ति से सम्बंधित सुख की विवेचना करते हुए आनण्य सुत्त में बुद्ध अनाथपिण्डिक (एक प्रसिद्ध व्यापारी) को गृहस्थों के चार प्रकार के सुख बताते हैं, यथा- 'अत्थि-सुख' (स्वामित्व का सुख) अर्थात् न्यायपूर्ण तरीके से अर्जित प्रचुर धन होने का सुख; 'भोग-सुख' (उपभोग का सुख) अर्थात् उस धन का स्वयं उपयोग करने और दान देने का सुख; 'अणण-सुख' (ऋण-मुक्ति का सुख) एवं 'अनवज्ज-सुख' (निर्दोष अथवा निष्पाप कर्मों का सुख)। इन सुखों में ऋण-मुक्ति का सुख सबसे महत्वपूर्ण है क्योंकि यह मानसिक शांति प्रदान करता है जब व्यक्ति अनुभव करता है कि उसपर किसीका रत्ती भर भी कर्ज नहीं है (न किञ्चि धारेति), चाहे वह कर्ज छोटा हो या बड़ा। इसलिए इसलिए बुद्ध ने आर्थिक स्वतंत्रता को मानसिक आधार माना। वस्तुतः 'ऋण-मुक्ति' को सुख मानना एक प्रगतिशील आर्थिक विचार है।

बुद्ध आर्थिक अनुशासन के प्रति इतने सजग थे कि उन्होंने विनय पिटक में नियम बनाया कि यदि किसी व्यक्ति पर कर्ज (ऋण) है, तो वह तब तक बौद्ध संघ में 'प्रव्रज्या' (दीक्षा) नहीं ले सकता जब तक वह अपना कर्ज चुका न दे। बुद्ध के द्वारा ऐसे नियम का प्रतिपादन किया जाना आवश्यक था क्योंकि धर्म का मार्ग मानसिक शांति का है, और एक कर्जदार व्यक्ति मानसिक रूप से स्वतंत्र नहीं होता। यह लेनदारों के प्रति न्याय सुनिश्चित करने का एक तरीका भी था। इसलिए बुद्ध ने ऋण को गृहस्थ के लिए 'दुःख' कहा है। उन्होंने कहा कि ऋण लेकर भोग विलास करना पतन का मार्ग है।

सभी प्राणियों का अस्तित्व आहार (भोजन) पर निर्भर है। भोजन के आभाव में प्राणियों का जीवित रहना संभव नहीं है। भोजन की प्राप्ति धन से होती है। भोनन के आभाव में प्राणियों के लिए भूख सबसे बड़ी बीमारी हो जाती है , जिसे दूर करने के लिए

व्यक्ति किसी भी कार्य को करने के लिए मजबूर हो जाता और वह अपराध करने से भी नहीं झिझकता है। इसलिए, पालि साहित्य बुद्ध की इस मान्यता का स्पष्ट उल्लेख करता है कि दरिद्रता (गरीबी) न केवल एक आर्थिक समस्या है, बल्कि नैतिक और सामाजिक पतन का मूल कारण है। अतएव, बुद्ध ने आर्थिक समानता, धन के वितरण और दरिद्रता उन्मूलन पर अपने विचारों को खुल कर अभिव्यक्त किया, यथा -

चक्कवत्ति सीहनाद सुत्त में बुद्ध ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस क्रम में उन्होंने स्पष्ट विचार प्रकट किया कि जब राज्य या शासक निर्धनों को धन उपलब्ध नहीं कराता (अधनानं धने अननुप्पदियमाने), तब दरिद्रता बढ़ती है। ''दरिद्रता सभी सामाजिक बुराइयों की जड़ है।'' जब समाज में धन का अभाव होता है, तब चोरी, झूठ और हिंसा बढ़ती है। अतः आर्थिक समानता स्थापित करना राज्य का प्राथमिक कर्तव्य है। यह सुत्त स्पष्टतः इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि ''दरिद्रता से चोरी बढ़ती है, चोरी से हिंसा (शस्त्रों का प्रयोग), हिंसा से झूठ और झूठ से समाज की नैतिक आयु और मनुष्य की सुंदरता कम हो जाती है। ऐसे अपराधों को, बुद्ध के शब्दों में, दंड के माध्यम से रोकना संभव नहीं है; इसका एकमात्र उपाय 'आर्थिक संसाधनों का समुचित वितरण' है।''

ध्यातव्य है कि बुद्ध केवल आध्यात्मिक गुरु नहीं थे, उन्होंने अल्पेक्षता अर्थात् संतोष और धन के न्यायपूर्ण वितरण की बात की। कूटदन्त सुत्त के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि जब कूटदन्त नामक ब्राह्मण ने अपने क्षेत्र में अशांति दूर करने के लिए 'महायज्ञ' करने की सलाह माँगी, तब बुद्ध ने उसे असली 'यज्ञ' से अवगत कराते हुए एक आदर्श राज्य की आर्थिक नीति (आर्थिक सुधार) से अवगत कराया। उन्होंने राज्य में शांति की स्थापना और उसके सर्वांगीन विकास के निमित्त अपराधियों को दंड देने के बजाय किसानों को बीज और चारा दिये जाने; व्यापारियों को व्यापार के लिए पूँजी दिए जाने और बेरोजगार नवयुवकों को राज्य-सेवा में उचित रोजगार और उचित वेतन-भत्ता प्रदान करने का सुझाव दिया। राज्य के द्वारा ऐसे कदम के उठाये जाने के परिणामस्वरूप यह अपेक्षा की गयी कि प्रजा अपने कार्यों में व्यस्त रहेगी, राजस्व बढ़ेगा और देश भयमुक्त होगा। इसे आज के 'कल्याणकारी राज्य' की प्रारंभिक अवधारणा के रूप में देखा जा सकता है।

व्यक्ति के श्रम एवं पारिश्रमिक की उचित गरिमा को सुनिश्चित करने के लिए सिगालोवाद सुत्त, जिसे 'गृहस्थों का विनय' कहा जाता है, में बुद्ध ने मालिक और नौकर (श्रम और पूँजी) के बीच संबंधों को न्यायपूर्ण बनाने के निर्देश दिए हैं। उन्होंने मालिक को अपने सेवकों का ध्यान पाँच प्रकार से रखे जाने का निर्देश दिया । यथा - उनकी शक्ति के अनुसार काम देना; उन्हें उचित भोजन और 'वेतन-भत्ता' देना; बीमारी में उनकी

चिकित्सा करना; विशेष लाभ या स्वादिष्ट भोजन मिलने पर उनमें बाँटना; और समय-समय पर उन्हें अवकाश देना।

बुद्ध ने व्यक्ति को अर्थोपार्जन करने के साथ-साथ उसके सही प्रबंधन पर भी विशेष बल दिया। इस क्रम में सिगालोवाद सुत्त में धन कमाने और उसे खर्च करने का एक संतुलित अनुपात का उल्लेख किया गया है। यथा धन का एक भाग उपभोग के लिए; दो भाग व्यवसाय या निवेश के लिए; और एक भाग आपत्ति (आपातकाल) के लिए संचित रखना चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर बीमारी अथवा आतिथ्य सेवा आदि पर इस राशी का उपयोग किया जा सके।

धन के सही प्रबंधन के निमित्त बुद्ध की यह मान्यता थी कि व्यक्ति को अपनी आय और व्यय का ज्ञान होना चाहिए। बुद्ध कहते हैं कि जैसे एक जोहरी (तुलाधार) जानता है कि पलड़ा कितना झुका है, वैसे ही गृहस्थ को अपनी आय के भीतर व्यय सीमित रखना चाहिए ताकि उसे कर्ज न लेना पड़े। अंगुत्तर निकाय में बुद्ध ने गृहस्थों के लिए सुख प्राप्त करने के निमित्त समजीवितता के चार तरीके बताए हैं, जिनमें आर्थिक प्रबंधन प्रमुख है। व्यक्ति को न तो बहुत अधिक खर्चीला होना चाहिए और न ही अत्यधिक कंजूस। उसे अपनी आय और व्यय के बीच संतुलन रखना चाहिए। बुद्ध ने धन संचय की तुलना एक ऐसे तालाब से की है जिसके चार द्वार हों; आय के द्वार खुले हों और व्यर्थ व्यय के द्वार बंद हों। बुद्ध ने धन के चार विनाशक द्वारों (जुआ, व्यभिचार, नशा और कुसंगति) से बचने और संतुलित जीवन जीने की सलाह दी है।

बुद्ध ने 'अति-संचय' को आध्यात्मिक मार्ग में बाधा माना। उन्होंने 'दान' को एक आर्थिक उपकरण के रूप में भी देखा, जो समाज में धन के प्रवाह को बनाए रखता है। इस क्रम में बुद्ध यह विचार प्रकट करते हैं कि ''न कदरिया देवलोकं वजन्ति'' (कंजूस देवलोक नहीं जाते)। यहाँ बुद्ध संपत्ति के 'उपयोग' और 'वितरण' पर बल देते हैं, न कि उसे जकड़ कर रखने पर।

बौद्ध आर्थिक नैतिकता का सार यह है कि धन 'साध्य' नहीं बल्कि 'साधन' है। बुद्ध ने दरिद्रता को 'दुःख' माना और उससे मुक्ति का मार्ग 'सम्मा-आजीव' (नैतिक श्रम) और 'अनण' (ऋण-मुक्त आत्मनिर्भरता) को बताया। यह दर्शन आज के उपभोक्तावादी और कर्ज-आधारित अर्थव्यवस्था के लिए एक अत्यंत प्रासंगिक समाधान प्रस्तुत करता है। पालि साहित्य यह स्पष्ट करता है कि बुद्ध ने दरिद्रता को 'पाप' नहीं, बल्कि 'दुःख' माना और इसके उन्मूलन को राज्य और समाज का प्राथमिक कर्तव्य बताया। उनका आर्थिक दर्शन 'मज्झिमा पटिपदा' (मध्यम मार्ग) पर आधारित है, जो न तो घोर दरिद्रता का समर्थन करता

है और न ही बेलगाम पूँजीवाद का, बल्कि धन के न्यायपूर्ण वितरण और साझा उपभोग की वकालत करता है।

9. स्त्री समानता: आध्यात्मिक स्वतंत्रता और समानता का शिखर

पालि साहित्य में महिलाओं की स्थिति का विवेचन एक अत्यंत जटिल और प्रगतिशील विषय है। तत्कालीन पितृसत्तात्मक समाज के बीच बौद्ध धर्म ने महिलाओं के लिए निर्वाण (आध्यात्मिक मुक्ति) के द्वार खोलकर एक क्रांतिकारी परिवर्तन किया। बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में प्रवेश देकर तत्कालीन पितृसत्तात्मक समाज में उन्हें पुरुषों के बराबर धार्मिक और सामाजिक दर्जा प्रदान किया। 'पुण्णा' जैसी दासी और 'अम्बपाली' जैसी नगरवधू का अर्हत्व प्राप्त करना पालि साहित्य की गौरवशाली उपलब्धि है। 'थेरीगाथा' विश्व साहित्य का वह अनूठा ग्रन्थ है जिसे महिलाओं (थेरियों) ने स्वयं लिखा है। पालि साहित्य में थेरीगाथा विश्व साहित्य का पहला ऐसा संग्रह है जहाँ स्त्रियाँ अपनी आध्यात्मिक मुक्ति की घोषणा करती हैं। यह महिलाओं की आध्यात्मिक संप्रभुता का घोषणापत्र है।

महापरिनिब्बान सुत्त जिस में बुद्ध के जीवन के अंतिम समय का वर्णन है, अम्बपाली (वैशाली की नगरवधू) का प्रसंग स्त्री समानता और गरिमा का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस सुत्त के अनुसार जब बुद्ध वैशाली पहुंचे, तो गणिका अम्बपाली ने उन्हें भोजन के लिए आमंत्रित किया। उसी समय वैशाली के शक्तिशाली लिच्छवी राजकुमारों ने भी बुद्ध को आमंत्रित किया। बुद्ध ने राजकुमारों के आमंत्रण को ठुकरा कर एक 'नगरवधू' के आमंत्रण को स्वीकार किया। यह घटना दर्शाती है कि बौद्ध दृष्टि में स्त्री की सामाजिक स्थिति या उसका व्यवसाय उसकी आध्यात्मिक पात्रता में बाधक नहीं है। इसी सुत्त में आनन्द बुद्ध से पूछते हैं कि "भन्ते! स्त्रियों के प्रति हमारा व्यवहार कैसा हो?" बुद्ध का उत्तर संयम और सम्मान पर आधारित था। यद्यपि यहाँ भिक्खुओं के लिए अनुशासन की बात थी, लेकिन अम्बपाली को बुद्ध द्वारा दी गई 'धम्मोपदेश' की स्वतंत्रता स्त्री की बौद्धिक क्षमता की स्वीकृति थी।

10. बुद्ध-विचारों की आधुनिक युग में प्रासंगिकता।

आधुनिक युग में, जहाँ विषमता, उपभोक्तावाद और संघर्ष में निरंतर बढ़ोतरी हो रही है, पालि साहित्य में वर्णित सामाजिक और आर्थिक दर्शन सम्बन्धी बुद्ध के वचन केवल एक धर्म विशेष तक 'धार्मिक उपदेश' तक सिमित न होकर एक 'वैश्विक समाधान' के लिए प्रेरक एवं व्यवहारिक प्रतिमान के रूप में विश्व ध्यान अपनी ओर अकर्थित कर रहा है।

सामाजिक आर्थिक मन्तव्यों की प्रभावकारिता एवं प्रासंगिकता को निम्नलिखित तथ्यों के विवेचन के अलोक में स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

7.1. सामाजिक समानता और मानवाधिकार

आधुनिक युग में 'समानता' और 'स्वतंत्रता' के जिन लोकतांत्रिक मूल्यों की चर्चा की जाती है, उसका आधार पालि साहित्य में बहुत पहले ही स्थापित किया जा चुका था। वासेट्ठ सुत्त (सुत्त निपात) में जातिवाद और नस्लभेद के उन्मूलन से सम्बन्धित बुद्ध का तर्क कि ''मनुष्यों में कोई जैविक भिन्नता नहीं होती'' आज के 'नस्लभेद विरोधी' (Anti-Racism) और 'जातिवाद विरोधी' आंदोलनों के लिए सबसे बड़ा वैचारिक हथियार है। डॉ. अम्बेडकर ने भारतीय संविधान की प्रस्तावना में 'न्याय, स्वतंत्रता और समता' के विचार पालि साहित्य और बुद्ध के दर्शन से ही ग्रहण किए थे। अस्सलायन सुत्त का यह विचार कि श्रेष्ठता 'कर्म' से होती है, आज के 'योग्यता-आधारित समाज' की नींव को संदर्भित करने के साथ-साथ मानवीय गरिमा की स्थापना करता है।

गरीबी से अपराध अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। चक्कवत्ति सीहनाद सुत्त आज भी प्रासंगिक है जो इस मत का प्रतिपादन करता है कि जब तक समाज में 'आर्थिक असमानता' रहेगी, अपराध बढ़ता रहेगा और केवल पुलिस और सेना के उपयोग से अपराधी को दंडित करने मात्र से अपराध नहीं रुकेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति के आर्थिक उन्यन के निमित्त उचित राजकीय कदम उठाये जायें। इस विचार को आधुनिक 'सोशल इंजीनियरिंग' के मूल मंत्र के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। पालि साहित्य में वर्णित ऐसे प्रेरक विचारों से आज की सरकारें अपने 'गरीबी उन्मूलन' और 'सतत विकास' की नीतियां के विनिर्माण में प्रेरणा ले सकती हैं। कूटदन्त सुत्त जिसमें बुद्ध अनुत्पादक खर्चों (यज्ञ) के बजाय किसानों और व्यापारियों को पूँजी देने की बात करते हैं, निवेश आधारित अर्थव्यवस्था के विकास पर बल देता है। पालि साहित्य में वर्णित यह विचार आज के 'स्टार्टअप इंडिया' या 'सब्सिडी मॉडल' जैसा है। ई.एफ. शूमाकर (E.F. Schumacher) जैसे विचारकों ने बुद्ध के 'मध्यम मार्ग' को आधुनिक अर्थव्यवस्था के संकट का समाधान माना है। सम्यक आजीविका का प्रावधान कि व्यक्ति को पाँच निषिद्ध आजीविकाओं (हथियार, मांस, विष, नशा, मानव व्यापार) से जीवकोपार्जन नहीं करना चाहिए; आज के 'पर्यावरण संकट' और 'हथियारों की होड़' के दौर में, 'नैतिक व्यापार' और 'कॉर्पोरेट सोशल रिस्पॉन्सिबिलिटी' के लिए दिशा-निर्देश हैं। इसी प्रकार पालि साहित्य उपभोक्तावाद का घोर विरोध करता है क्योंकि यह 'तृष्णा' (असीमित इच्छाओं) को दुःख

का कारण मानता है। यह संसाधनों के 'न्यूनत्तम' और अधिकतम 'न्यायपूर्ण उपभोग' को बढ़ावा देता है, जो भविष्य की पृथ्वी के लिए अनिवार्य है।

स्त्री-समानता एवं लैंगिक न्याय की स्थापना की दृष्टि से भी पालि साहित्य की भूमिका महत्त्वपूर्ण हैं। इस सन्दर्भ में थेरीगाथा आज के नारीवादी विमर्श के लिए एक अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ नारी की स्वतन्त्र चेतना को रेखांकित करते हुए यह प्रमाणित करता है कि महिलाओं की बौद्धिक और आध्यात्मिक क्षमता पुरुषों के समान है। आधुनिक युग में 'महिला सशक्तिकरण' के लिए थेरीगाथा एक ऐतिहासिक साक्ष्य है कि स्त्रियाँ पितृसत्तात्मक बेड़ियों को तोड़कर अपनी पहचान बना सकती हैं। बुद्ध ने वज्जि संघ की सात अपरिहाणीय नियमों (सत्त अपरिहाणिय धम्मा) के माध्यम से लोकतंत्र को बचाने के तरीके बताए (जैसे–समय पर सभाएं करना, सर्वसम्मति से निर्णय लेना)। यह आधुनिक संसद और संयुक्त राष्ट्र (UN) के लोकतांत्रिक मूल्यों के लिए मार्गदर्शक है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में जब विश्व 'पूँजीवाद' और 'अति-उपभोक्तावाद' के संकटों से जूझ रहा है, पालि साहित्य एक 'नैतिक सामाजिक एवं आर्थिक ढांचा' प्रदान करता है। पालि साहित्य की प्रासंगिकता इसलिए है क्योंकि यह 'परलोक' की नहीं, बल्कि 'इसी लोक' (इहलोक) में न्याय, शांति और समानता की स्थापना की बात करता है।

''''''

संदर्भ

1. *शर्मा, रामशरण (2007), लोहे का प्रयोग और कृषि विस्तार, प्रारंभिक भारत का परिचय, पृष्ठ -147-148*
2. *झा, डी. एन. एवं श्रीमाली, के. एम. (2009). प्राचीन भारत का इतिहास, सामाजिक वर्गीकरण और गृहपति की अवधारणा, पृष्ठ 146-149*
3. *शर्मा, रामशरण (2007), द्वितीय नगरीकरण और आहत सिक्के, प्रारंभिक भारत का परिचय, पृष्ठ 152-154*
4. *थापर, रोमिला (2008), महाजनपदों का उदय और आर्थिक संरचना, पूर्वकालीन भारत (प्रारंभ से ई. 1300 तक), पृष्ठ 154-156*
5. *वही, शिल्प श्रेणियां और नगर, पूर्वकालीन भारत (प्रारंभ से ई. 1300 तक), पृष्ठ 162-164*
6. *मजूमदार, आर. सी. (संपादित) (2010), बुद्धकालीन व्यापार और श्रेणियों का आंतरिक प्रशासन, द हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ़ द इंडियन पीपल - वॉल्यूम २: द एज ऑफ़ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ 600-605.*
7. *झा, डी. एन. एवं श्रीमाली, के. एम. (2009). प्राचीन भारत का इतिहास, बुद्धकालीन अर्थव्यवस्था और व्यापारिक मार्ग, पृष्ठ 140-142*
8. *शर्मा, रामशरण (2007), वर्ण व्यवस्था और सामाजिक परिवर्तन, प्रारंभिक भारत का परिचय, पृष्ठ 158-160*
9. *थापर, रोमिला (2008), श्रमण परंपरा (बौद्ध और जैन धर्म का सामाजिक आधार), पूर्वकालीन भारत (प्रारंभ से ई. 1300 तक), पृष्ठ 168-171*

10. मजूमदार, आर. सी. (संपादित) (2010), स्त्रियों की स्थिति और थेरीगाथा, द हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ़ द इंडियन पीपल - वॉल्यूम 2: द एज ऑफ़ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ 575-577.
11. "अस्तीति शाश्वतोग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
    a. तस्माद् अस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचाक्षणः॥ - कलुपहना, डेविड जे.(1999), मूलमध्यमिककारिका ऑफ़ नागार्जुन, 15.10, पृष्ठ -239
12. सांकृत्यायन, राहुल (अनु.), विनयपिटक, 1935, पृ. 80
13. देखें सामञ्ञफल सुत्त, दीघनिकाय, पृष्ठ संख्या: 1-15।
14. देखें ब्रह्मजाल सुत्त, दीघनिकाय, पृष्ठ संख्या: 19-22।
15. अस्सलायन सुत्त, मज्झिमनिकाय, पृष्ठ संख्या – 390
16. वही, पृष्ठ संख्या: 390-392।
17. 'वासेट्ठ सुत्त' (गाथा 57-61), सुत्तनिपात, पृष्ठ-138; मज्झिम निकाय (सुत्त सं. 93) पृष्ठ - 413 , 416
18. वासेट्ठ सुत्त, सुत्त निपात, गाथा 9-12, पृष्ठ संख्या: 133।
19. "न जटाहि न गोतेन न जच्चा होति ब्राह्मणो। यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो॥" – धम्मपद – गाथा-393, पृष्ठ-79
20. महापरिनिब्बान सुत्त, दीघ निकाय, पृष्ठ संख्या: 130।
21. सिगालोवाद सुत्त, दीघ निकाय, पृष्ठ संख्या: 275-276।
22. अंगुत्तर निकाय, अट्ठक निपात (पहारद सुत्त); उदान, मेधिय सुत्त, पृष्ठ संख्या: 75।
23. विनय पिटक, चुल्लवग्ग, पृष्ठ संख्या: 479 ।
24. विनय पिटक, महावग्ग, पृष्ठ संख्या: 152-160।
25. विनय पिटक, चुल्लवग्ग, पृष्ठ संख्या: 410-412।
26. थेरगाथा (सुनीत थेर की), गाथा 620-631, पृष्ठ संख्या -165।
27. अंगुत्तर निकाय, भाग-2, पञ्चक निपात (177), पृष्ठ संख्या: 182-184
28. 'आनण्य सुत्त', अंगुत्तरनिकाय, खण्ड-2, चतुक्क निपात, पृष्ठ संख्या 95-96
29. विनय पिटक, महावग्ग (1.46), पृष्ठ संख्या: 92 (राहुल सांकृत्यायन)।
30. "सब्बे सत्ता आहारठितिका" । - कुमारपञ्ह, खुद्दकपाठ, खुद्दकनिकाय, खण्ड-1, पृष्ठ संख्या – 4
31. "जिघच्छा परमा रोगा" । - धम्मपद- गाथा – 203, पृष्ठ संख्या - 40
32. दीघ निकाय, चक्कवत्ति सीहनाद सुत्त (26), पृष्ठ संख्या: 233-238
33. दीघ निकाय, कूटदन्त सुत्त (5), पृष्ठ संख्या: 50।
34. सिगालोवाद सुत्त (31), दीघ निकाय, पृष्ठ संख्या: 275-276।
35. 'सिगालोवाद सुत्त', दीघनिकाय, पृष्ठ संख्या: 274।
36. अंगुत्तर निकाय, अट्ठक निपात (व्याग्घपज्ज सुत्त/दीघजाणु सुत्त), पृष्ठ संख्या: 469-471।
37. धम्मपद, लोक वग्गो, गाथा 177, पृष्ठ संख्या: 35।
38. महापरिनिब्बान सुत्त (16), दीघ निकाय, , पृष्ठ संख्या: 141-142।
39. वासेट्ठ सुत्त, सुत्त निपात, गाथा 3.17-18, पृष्ठ संख्या -164-165।
40. देखें चक्कवत्ति सीहनाद सुत्त (26), दीघ निकाय, पृष्ठ संख्या: 233-238।
41. अंगुत्तर निकाय, व्याग्घपज्ज सुत्त; Schumacher, E.F.: Small is Beautiful।
42. थेरीगाथा, पृष्ठ संख्या: 25 (सोमा थेरी की गाथा)।
43. दीघ निकाय, महापरिनिब्बान सुत्त (16), पृष्ठ -118 -119।

चयनित ग्रन्थ सूची

1. कलुपहना, डेविड जे.(1999), मूलमध्यमिककारिका ऑफ़ नागार्जुन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
2. कश्यप, भिक्षु जगदीश (1959), खुद्दकपाठ, खुद्दकनिकाय, खण्ड-1, पालि प्रकाशन मंडल, बिहार राज्य।
3. कश्यप, भिक्षु जगदीश (अनुपलब्ध) उदान, मेधिय सुत्त, भारतीय महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस।
4. झा, डी. एन. एवं श्रीमाली, के. एम. (2009). प्राचीन भारत का इतिहास, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
5. थापर, रोमिला (2008), प्राचीन भारत (प्रारंभ से ई. 1300 तक), राजकमल प्रकाशन।
6. धम्मपद (2012), विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मागिरी, इगतपूरी।
7. भिक्षु धर्मरक्षित (1997), सुत्तनिपात, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
8. भिक्षु धर्मरत्न (1955), थेरगाथा (सुनीत थेर की गाथाएं), महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस।
9. मजूमदार, आर. सी. (संपादित) (2010), द हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ़ द इंडियन पीपल - वॉल्यूम 2: द एज ऑफ़ इम्पीरियल यूनिटी. भारतीय विद्या भवन (हिंदी अनुवाद संस्करण)।
10. राहुल सांकृत्यायन (1964), मज्झिम निकाय, महाबोधि सभा, सारनाथ (बनारस)।
11. शर्मा, रामशरण (2007), प्रारंभिक भारत का परिचय, ओरिएंट ब्लैकस्वान।
12. शास्त्री, स्वामी द्वारिकादस (2002)अंगुत्तर निकाय, भाग-2, बौद्ध भारती, वाराणसी।
13. सांकृत्यायन, राहुल (1935) विनयपिटक, महाबोधि सभा, सारनाथ (बनारस)।
14. सांकृत्यायन, राहुल एवं भिक्षु जगदीश कश्यप (1936), दीघनिकाय, महाबोधि सभा, सारनाथ (बनारस)।

***